

# आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दार्शनिक अवदान

डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

उपनिषत्कालोत्तर दार्शनिक चिन्तकों में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान मूर्धन्य है। वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शन-मार्गों में उनको श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है। जैन धार्मिक परम्परा में वह भगवान् महावीर और गौतम के पश्चात् तृतीय स्थान पर प्रतिष्ठित हैं—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमोगणी ।  
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

प्राकृत पाहुडों के रचनाकार के रूप में वह दिग्म्बर जैन सम्प्रदाय के सर्वाधिक सम्मानित आचार्य हैं। उनकी रचनाओं में समयसार, प्रवचन-सार और पंचास्तिकाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, यद्यपि जैनाचार-विचार के विवेचन की दृष्टि से नियमसार, रयणसार, अष्ट (दंसण, चारित्र, सुत्त, बोह, भाव, मोक्ख, लिंग, सील) पाहुड, दश (तीर्थकर, सिद्ध, चारित्र, अनगार, आचार्य, निर्वाण, पंचपरमेष्ठि, नंदी-श्वर, शान्ति, श्रुत) भक्ति और बारसअणुवेक्खा का मूल्य भी कम नहीं है। यों परम्परा इन्हें ८४ पाहुडों का रचयिता मानती है।

आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम अज्ञात है। देवसेनाचार्य के दर्शनसार से इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दि ज्ञात होता है—

जइ पउमणंदि-णाहो सीमंधर सामि-दिव्वणाणेण ।  
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥२३॥

इनका कुन्दकुन्द नाम जन्म-ग्राम कोण्डकुण्ड (तमिलनाडु में गुन्तकुल के पास) के नाम पर प्रसिद्ध हुआ। अन्य महान् दार्शनिकों के समान इस आचार्य को जन्म देने का श्रेय भी दक्षिण भारत को प्राप्त है। भक्ति और दर्शन दोनों के आगमों और सूत्रों के निबन्धन का कार्य धुर दक्षिण में हुआ। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती बतलाया जाता है। अन्य महान् सन्तों और विद्वानों के समान कुन्दकुन्द के जीवन के साथ भी अनेक किंवदन्तियाँ जुड़ी हुई हैं। फिर भी इतना लगभग निर्विवाद है कि वह मूलसंघ के आदि प्रवर्तक थे जिसकी सत्ता चतुर्थ-पंचम शती ईस्वी में प्राप्त होती है। इन्हीं के ग्राम से प्रभूत मुनि परम्परा को कुन्दकुन्दान्वय के नाम से (जिसका अस्तित्व सप्तम ई० से मिलने लगता है) अभिहित किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परम्परा उन्हें पहली या दूसरी ईस्वी शताब्दी से जोड़ती है किन्तु उनके ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा एवं तत्कालीन स्थिति पर उनके द्वारा की गयी टिप्पणियों एवं श्वेताम्बरों पर उनके द्वारा किये हुए आक्षेपों तथा उनके द्वारा निरूपित अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक मतों को अन्य भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि में देखने पर उनका समय चतुर्थ ईस्वी शताब्दी के पूर्व का नहीं जान पड़ता। वह सांख्यकारिका और प्रस्थानत्रयी के मध्यवर्ती विचारक हैं। समयसार की प्रथम कारिका उनसे पूर्व श्रुतकेवलियों की लम्बी शृंखला का आभास देती है। यह बात भी उक्त धारणा की पुष्टि करती है। चाहे वह द्वितीय शताब्दी में रहे हों या चतुर्थ में, इससे उनकी महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता है। आद्य शंकराचार्य से तो पूर्ववर्ती वह थे ही।

कुन्दकुन्द की रचनाओं में समयसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस पर आगे सविस्तार चर्चा की जाएगी। प्रवचनसार में २७५ गाथाएँ हैं जो ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन श्रुतस्कन्धों में विभाजित हैं। इसमें आत्मा के मूल गुण-ज्ञान के स्वरूप, सर्वज्ञता की सिद्धि, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोह, क्षय जैसे आत्मा से सीधे सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। द्वितीय स्कन्ध में ज्ञेय अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्तमंगिनय, पुद्गल, निश्चय और व्यवहार आदि का निरूपण है। चारित्राधिकार में श्रमणों की दीक्षा तथा उनकी कायिक-मानसिक साधनाओं पर प्रकाश डाला गया है। पंचास्तिकाय में कुल १८१ गाथाएँ हैं जिनमें पांच अस्तिकायों—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश के स्वरूप की भीमांसा है। यह ग्रन्थ का प्रथम स्कन्ध है। द्वितीय स्कन्ध में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष

की चर्चा है। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर अमृतचन्द्र सूरि एवं जयसेन की बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं। नियमसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का साधन बतलाते हुए उनके स्वरूप का विवेचन करता है। इसमें १८७ गाथाएँ हैं। इसकी ८१ गाथाओं में आवश्यकों के स्वरूप का विस्तार से कथन किया गया है। ये आवश्यक हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक एवं परमभक्ति। वह आवश्यक से हीन श्रमण को चारित्र-भ्रष्ट मानते हैं। पुराण-पुरुष यदि केवली हुए हैं तो आवश्यकों के अनुष्ठान से ही। अन्त में मोक्ष के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। कुन्दकुन्द योग-भक्ति को आवश्यक क्रिया का अंग मानते हैं। उनके अनुसार ऋषभ आदि जिनेन्द्र योग-भक्ति के द्वारा ही निर्वाण के अधिकारी बने। इसी दृष्टि से उन्होंने पृथक्-पृथक् रूप से दस भक्तियों की रचना की। ये भक्ति-रचनाएँ ७ से लेकर २७ तक गाथाओं में उपलब्ध हैं और स्तवन-वन्दनपरक एवं भावनात्मक हैं। सूत्रपाहुड में बतलाया गया है कि सूत्र को पकड़ कर चलने वाला ही पारमार्थ्य को प्राप्त करता है। सूत्र वे हैं जिनके अर्थ का उपदेश तीर्थंकर ने और ग्रन्थ-रचना गणधरों ने की है। सूत्रपाहुड से पता चलता है कि कुन्दकुन्द के समय में जिनामसूत्र वर्तमान थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने मुनि-नग्नत्व का निरूपण और स्त्रियों की प्रव्रज्या का निषेध किया है। संभव है यह तत्कालीन बौद्ध भिक्षुओं के पतन से जन्य प्रतिक्रिया का परिणाम हो जो धीरे-धीरे परिग्रही बन गये थे। इससे श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रविभागों के न केवल अस्तित्व, अपितु उनकी परस्पर-स्पर्धा का भी पता चलता है। चारित्रपाहुड की ४४ गाथाओं में ज्ञान और दर्शन के मेल से उत्पन्न सम्यक्चारित्र है। सम्यक्त्व चारित्र और संयम चारित्र के साथ, सम्यक्त्व के आठ अंगों और संयम के सागर-अनगर भेदों तथा उनके धर्मों यथा—अणु-गुण और शिक्षाव्रतों, पंचेन्द्रिय संवरों, पच्चीस क्रियाओं के साथ पांच व्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का निरूपण इस पाहुड में है। ६२ गाथाओं वाले बोधपाहुड में आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, बिम्ब, मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या है। भावपाहुड का कलेवर कुछ बड़ा है। इसमें १६५ गाथाएँ हैं। इसमें चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन है। इसमें द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणों में भेद करते हुए यह बतलाया है कि बिना परिणामों में शुद्धि आये, राग-द्वेष आदि कषायों के छूटे और आत्म-रमण की स्थिति में पहुँचे आत्म-कल्याण संभव नहीं। तदर्थ लेखक ने अनेक सिद्ध और प्रसिद्ध मुनियों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इस पाहुड का साहित्यिक मूल्य अन्य पाहुडों की अपेक्षा अधिक है। लिंगपाहुड की २२ गाथाओं में उन प्रवृत्तियों की निन्दा की गयी है जो मुनि के पतन का कारण बनती हैं। यह पाहुड सामयिक परिस्थितियों का अच्छा चित्र भी प्रस्तुत करता है। भावनिष्ठ श्रमणों को 'पासत्थ' से भी निकृष्ट बतलाते हुए उन्हें तिर्यञ्चयोनिगामी कहा है। शीलपाहुड में ४४ गाथाएँ हैं जिनमें शील को धर्मसाधना का प्रमुख अंग बतलाया है। व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार और न्याय-शास्त्र ये सब तभी सार्थक हैं जब उनके साथ शील भी हो। दर्शनपाहुड की २६ गाथाओं में सम्यग्दर्शन को निर्वाण के लिए अनिवार्य बतलाया गया है और मोक्ष-पाहुड की १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन आत्मरूपों के साथ मोक्ष के उपायों की व्याख्या इस पाहुड में है। प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा सारी उपाधियों से रहित शुद्ध-स्वभाव है तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से उसका क्या सम्बन्ध? उत्तर में कुन्दकुन्द कहते हैं—

व्यवहारेणु वदिसिदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

ज्ञापक आत्मा शुद्ध है फिर भी व्यवहार-दृष्ट्या हम उसके चरित्र, दर्शन और ज्ञान का उपदेश करते हैं। शंकराचार्य ने पारमार्थिकी सत्ता से पृथक् व्यावहारिकी सत्ता को स्वीकार किया है। विशुद्ध मुक्त-स्थिति का शब्दों में वर्णन करना कठिन होता है क्योंकि वह शब्दातीत स्थिति होती है। इसीलिए विश्व के प्रायः सभी प्राचीन चिन्तकों ने रूपकों के द्वारा इस स्थिति का चित्रण किया है। कुन्दकुन्द इसके लिये तर्क देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणाउ गाहेदं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थु वदेसणमसक्कं ॥८॥

जैसे—विदेशी व्यक्ति यदि हमारी भाषा को नहीं समझता तो हम उसे उसी की भाषा में अपनी बात समझा देते हैं, इस तरह वह हमारी बात समझ लेता है। यही स्थिति सामान्यजनों की है जो निश्चय-नय को समझने में अक्षम होते हैं, उनके लिए व्यवहार-नय का आश्रय लेना श्रुत-केवली की विवशता है। कुन्दकुन्द जानते थे कि सामाजिक जीवन में व्यवहारनय को अस्वीकृत करना शक्य नहीं है। हर व्यक्ति की पहुँच तत्त्व की गहन पर्यायों तक सम्भव नहीं, कुछ स्थूल पर्यायों तक ही उसकी गति हो सकती है। भगवान् महावीर ने मोक्ष के जो चार मार्ग बतलाये थे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—उनमें कुन्दकुन्द ने प्रथम तीन पर अधिक बल दिया। तप का अन्तर्भाव चारित्र में हो जाता है। व्यवहारनय को स्वीकार करते हुए भी प्रायः उनकी व्याख्याएँ और स्थापनाएँ निश्चयनय पर आधारित हैं क्योंकि निश्चयनय का दृष्टिकोण ही सूक्ष्म और आत्मगम्य है। इसीलिए दर्शन के क्षेत्र में कुन्दकुन्द निश्चयनय के प्रवक्ता माने जाते हैं। उन्होंने कहा ही है—

दंसणणाणचरित्तानि सेविदग्धाणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिणि वि अप्पाणं चं व णिच्छयदो ॥९॥

जैन दर्शन मीमांसा

१४५

उनके मत में व्यवहारनय सत्यार्थ को पूर्णतया प्रकाशित नहीं कर सकता। यह काम शुद्धनय ही कर सकता है और बिना तत्त्वार्थ का आश्रय लिये जीव की सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि संभव नहीं है—

**ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो डु सुद्धणओ ।**

**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥**

रयणसार में रत्नत्रय का विवेचन है। इसमें श्रावक और मुनि के आचार का भी वर्णन है। इसमें सम्यग्दर्शन के ७० गुणों और ४४ दोषों का भी कथन है। श्रुताभ्यास की आवश्यकता और स्वेच्छाचार का निषेध है। कुछ लोग इसके कुन्दकुन्द-कृत होने में संदेह प्रकट करते हैं। द्वादशानुप्रेक्षा की ९१ गाथाओं में अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचिभाव, आस्रव, संवर, निर्जरा और धर्म—इन बारह भावनाओं की व्याख्या है।

ऊपर पाठकों की सुविधा के लिए ग्रन्थों के प्राकृत नामों का संस्कृत रूप दिया गया है। इन ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन, शील, चारित्र्य आदि अर्थात् जीवन की शुद्धता, संयम एवं व्रतों के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के उपायों पर बल है। उनमें स्थान-स्थान पर आवृत्तियाँ और पिष्टपेषण भी मिलेंगे। अनेक स्थानों में नीरसता भी उबा देने की सीमा तक है। फिर भी ग्रन्थकार की लोकोपकार और जीवनपावित्र्य की तीव्र इच्छा सर्वत्र प्रतिबिम्बित है।

कुन्दकुन्द की इस साधनग्रन्थमाला का सुमेरु है—समयसार, जो अपनी गम्भीर सूक्ष्मदृष्टि, मौलिकता एवं प्रतिपादन-शैली के लिए अजैन विद्वानों में भी बहुत समादृत है। समयसार जिसका ग्रन्थकार-प्रदत्त नाम समयपाहुड है, ४१५ गाथाओं में निबद्ध आत्मदर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने पाहुड शब्द का प्रयोग तत्त्व, सार के तथा समय शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया है और साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि मैं जो कुछ रहा हूँ उसमें मेरा कुछ नहीं, मैं तो श्रुतकेवली सिद्धों की बातों को ही दोहरा रहा हूँ—**सुयकेवली भणियं**। उन्होंने आत्मा के दो भेद किए—स्वसमय और परसमय। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में स्थित जीव का दूसरा नाम है—स्वसमय और जो पुद्गल से सम्बन्धित कार्यों और परिणामों से आबद्ध हो, वह परसमय कहा जाएगा—

**जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिवो तंहि समयं जाण ।**

**पोग्गल कम्मवदेसट्ठियं चत जाण परसमयं ॥२॥**

कुन्दकुन्द की यह गाथा योगदर्शन के तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् का स्मरण दिलाती है। आत्मा वास्तविक रूप में सारी उपाधियों से मुक्त शुद्धरूप है। यही उसका स्वरूप है। जैन और वेदान्ती दोनों ही आत्मा के इस रूप को अनादि काल से स्वीकार करते हैं, जिसका कारण दोनों को ज्ञात नहीं है, आत्मा को अविद्या या उपाधि से आवृत मानते हैं। इस अविद्या से, जो अनिर्वचनीय कारणों से जीव के साथ संपृक्त हो गयी है, मुक्ति पाना ही दोनों की दृष्टि में परम पुरुषार्थ है। शुद्धनय के अनुसार आत्मा सकल बन्धनों से हीन, कार्मिक और अकार्मिक द्रव्यों से कमलपत्रवत् अस्पृष्ट और इस प्रकार जन्म-मृत्यु से रहित तथा विभिन्न गतियों और स्थितियों में भ्रमण करता हुआ भी 'स्वभावमात्र' रहता है, जैसे—सुवर्ण या मृत्तिका कटक-कुण्डल या घटपटादि आकार ग्रहण करते हुए भी सुवर्ण और मृत्तिका ही रहते हैं। विविध तरंगों से आन्दोलित दिखने पर भी जैसे समुद्र नियत (निश्चल) रहता है, ऐसे ही आत्मा भी नियत अर्थात् अपरिवर्तित और अक्षुब्ध रहता है। ज्ञान, दर्शन आदि मानसिक बौद्धिक विशेषताएँ उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीं करतीं। वह अविशेषक है—घट-बढ़-रहित। वह इच्छा, द्वेष, राग, विराग आदि प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त-असंयुक्त है। कुन्दकुन्द का कथन है कि इस रूप में आत्मा को पहचानना ही शुद्धनय है—

**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणणयं णियदं ।**

**अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥**

गीता ने इसे ही **आपूर्वमाणमचलप्रतिष्ठम्** कहा है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य उस व्यक्ति से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रखता, ऐसे ही ये तीनों जीव से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रखते। वे जीव-रूप ही हैं। निश्चय नय में इस रत्नत्रयी का जीव से तादात्म्य प्रतिपादित किया जाता है, जबकि व्यवहार नय में ये साध्य रूप रहते हैं। कुन्दकुन्द का कथन है कि जैसे राजानुग्रह चाहने वाला व्यक्ति पहले छत्र, चमर तथा परिचरों को देखकर राजा की पहचान करता है और फिर उनकी दया बुद्धि पर विश्वास और आस्था। पश्चात् वह पूरे मनोयोग से उसकी सुश्रूषा करता है, वैसे ही मोक्ष की कामना करने वाले को जीव-राजा की ठीक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए (णादव्वो), फिर उस पर श्रद्धा करनी चाहिए (सद्दहेदव्वो) और तब उसकी परिचर्या करनी चाहिए (अणुचरिदव्वो)—(गाथा १७-१८)। यह कथन उपनिषद् के इस वाक्य का स्मरण दिलाता है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।

परम्परा के अनुसार कुन्दकुन्द ने भी जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नौ द्रव्यों का विवेचन किया है (गा० १३) और इनके ठीक-ठीक ज्ञान को सम्यक्त्व कहा है। इनमें जीव और अजीव ही प्रमुख हैं तथा शेष सात इन्हीं के परस्पर संसर्ग का परिणाम। कुन्दकुन्द देह और जीव के पार्थक्य के अवगम पर बार-बार जोर देते हैं। वह कहते हैं कि व्यवहारनय में जीव और देह को एक मान लिया जाता है किन्तु वस्तुतः वे दोनों कदापि एक नहीं हो सकते। मुनि लोग भी जीव से सर्वथा भिन्न पुद्गलमय देह की स्तुति कर

**आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ**

ऐसा मान लेते हैं कि हमने भगवान् केवली का स्तवन-वन्दन कर लिया। किन्तु जिस प्रकार नगर का वर्णन कर देने से राजा का वर्णन नहीं हो जाता, वैसे ही देह के गुणों की स्तुति कर देने से केवली के गुणों की स्तुति नहीं हो जाती—

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।  
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥  
णयरम्भि वण्णिदे ज हण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।  
देह गुणो थुण्वंते ण केवलि गुणा थुदा होति ॥३०॥

जो इन्द्रियों को जीतकर आत्मा (स्वयम्) को ज्ञान-स्वभाव मानता है, वह जितेन्द्रिय कहलाता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, जितमोह व्यक्ति आत्मा से भिन्न सारे भावों का प्रत्याख्यान करता चलता है। ज्ञानी जन आत्म-भिन्न सारे भावों का इसी प्रकार परित्याग कर देता है जैसे कोई पुरुष परद्रव्य का परित्याग करता है। तब उसकी यह भावना दृढ़ हो जाती है कि मैं एक, शुद्ध, दर्शन और ज्ञान स्वरूप और सदा अरूपी हूँ। अपने अतिरिक्त परमाणुमात्र भी अन्य कुछ मेरा नहीं है—

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी ।  
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥३०॥

कुछ लोग राग, द्वेष आदि (अज्झवसाणं), कुछ इच्छादि के तीव्र, मन्द आदि अनुभाग को, कुछ नोकर्म (अकार्मिक पुद्गल) को, कुछ जीव और कर्म दोनों के युग्म को जीव बतलाते हैं। वस्तुतः ये सब और अन्य अष्टविध कर्म पुद्गलमय हैं जो पच्यमान होकर दुःख के जनक होते हैं। जैसे सेना के प्रयाण करने पर लोग बोलते हैं—देखो ! राजा जा रहा है। जबकि सारी सेना राजा नहीं होती, राजा केवल एक होता है ऐसे ही अध्यवसानादि अन्य भावों (राग, द्वेष, इच्छा, प्रयत्न आदि) को देखकर लोग उन्हें ही जीव मान बैठते हैं। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से ऐसे प्रयोग ठीक हो सकते हैं किन्तु वे परमार्थ-सत्य नहीं होते। वस्तुतः जीव का न कोई वर्ण है, न गन्ध, न रस, न स्पर्श और न राग, द्वेष, मोह, कर्म, प्रत्यय, वर्ग, वर्गणा या स्पर्धक (अणु, अणुक्रिया और अणुसंघात) ही। योग, बन्ध, उदय, मार्गणा, स्थिति, संक्लेश, विशुद्धि, संयम, लब्धि, जैविक स्थानों एवं गुण स्थानों से पृथक् जीव अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनुमानागम्य, अनिर्दिष्ट संस्थान (किसी विशेष शरीराकार से मुक्त) और केवल चेतनागुणमय है—

अरसमह्वमगंधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसदं ।  
जाण अलिगगहणं जीवमणिद्विट्ठं संठाणं ॥

उपर्युक्त नकारात्मक विशेषणों से कुन्दकुन्द ने अपने समय में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का भी निराकरण किया है। वह राग-द्वेषादि प्रवृत्तियों के साथ जीव का सम्बन्ध क्षीरोदकवत् मानते हैं। क्षीर में मिले जल को भी लोग भ्रमवश क्षीर समझ लेते हैं, क्योंकि वह क्षीर ही दिखता है। किसी घर में डाका पड़ा सुनकर लोग कह उठते हैं कि अमुक घर लुट गया; जबकि परमार्थतः घर नहीं, उसका मालिक लूटा गया होता है। व्यवहार में ऐसे प्रयोग उपचार (लक्षणा) जन्य होते हैं। जीव के विषय में भी ऐसा ही होता है यद्यपि जीव इन सबसे अलग उपयोगगुणाधिक्यवान् (दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय) है—

एदेहिय सम्बन्धो जहेव क्षीरोदयं मुणेदब्बो ।  
णय हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधियो जम्हा ॥५७ व ५८॥

यहां तक कुन्दकुन्द और शंकर के मार्ग में अन्तर नहीं है। प्राणी (जीव) एक, दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों वाले होते हैं। इनमें कुछ सूक्ष्म, कुछ बेर के आकार के, कुछ कम विकसित और कुछ पूर्ण विकसित (अपर्याप्त-पर्याप्त) होते हैं। इनके देह को, जो कर्म का परिणाम होता है, व्यवहार में जीव कह दिया जाता है। जीव इनसे भिन्न है। उपयोग या शुद्ध चेतन जीव अनादिकाल से मोह (अविद्या) में पड़ा हुआ तीन परिणामों (विकारों) को भोग रहा है। ये हैं मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव (८६)। आत्मा जिस-जिस भाव या परिणाम को उत्पन्न करता है, उसका वह कर्ता होता है। उसके कारण पुद्गल द्रव्य स्वयं ही उसमें कर्म की उत्पत्ति करता है जिससे जीव कर्म से संपृक्त बनता है—

जं कुणदि भावामादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।  
कम्मत्तं परिणमदे तम्ह सयं पोग्गलं दब्बं ॥ ६१॥

वस्तुतः वह ज्ञानमय जीव कर्मों का करने वाला नहीं होता—

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥६३॥

वह घट, पट आदि समस्त द्रव्यों का उत्पादक है ही नहीं। ये सारे द्रव्य योग और उपयोग (जीव से सम्बद्ध शारीरिक हाथ-पांव आदि और बौद्धिक क्रियाओं) के संयोग से उत्पन्न होते हैं। अतः योग और उपयोग इन सबके निमित्त-कर्ता हैं। जीव तो निमित्त-कर्ता भी नहीं है। व्यवहार में जीव और उससे संबद्ध शरीरादि में भेद न करके लोग जीव को निमित्त-कर्ता कह देते हैं—

जैन दर्शन मीमांसा

१४७

जीवोण करेदि घडं जेव पडं जेव से सगे दखे ।

जोगुण ओगा उप्पादगा य सो तेसि हवदि कत्ता ॥१००॥

जैसे सेनाओं के लड़ने पर कह दिया जाता है कि राजा लड़ रहा है, वैसे ही जीव के पृष्ठभूमि में रहने पर उसे हेतुभूत समझकर ज्ञानावरणीय आदि सारे कार्मिक-द्रव्य उपचार (लक्षणा) वशात् जीवकृत कह दिये जाते हैं (१०५-१०६) । वस्तुतः गुणसंज्ञक प्रत्यय इन सारे कर्मों की सृष्टि करते हैं । इसलिये जीव अकर्ता और गुण कर्ता ही है । देखिये—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ गीता

तथा—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधमि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ सांख्यकारिका, ११

सांख्य भी त्रिगुण को आत्मा का धर्म स्वीकार नहीं करता, यद्यपि नैयायिक ऐसा मानते हैं । वह गुणों को सृष्टि का कारण मानता है, जीव या पुरुष को नहीं ।

कुन्दकुन्द के अनुसार पुद्गल-द्रव्य स्वयं ही कर्मभाव में परिणत होता है । तब प्रश्न उठता है कि यदि जीव स्वयं कार्मिक बन्ध में पड़ने या रागेच्छादि से संपृक्त होने में अक्षम हो तो उसकी स्थिति सांख्य के पुरुष के समान साक्षीमात्र की रह जायगी और संसार-प्रवाह के लिए अवकाश ही न रहेगा और यदि द्रव्य में जीव को कार्मिक बन्ध में लाने की क्षमता स्वीकार कर ली जाय तो प्रश्न उठेगा कि अचेतन द्रव्य अपने से भिन्नधर्मा चेतन-जीव में किस प्रकार विकार उत्पन्न कर सकता है । इसलिये कुन्दकुन्द स्वीकार करते हैं कि निमित्त रूप में क्रियाशील पुद्गल जीव में रागादि उत्पन्न कर सकता है और जीव में उन विकारों से प्रभावित होने की संभावना रहती है । कहा है—

कोहु वजुत्तो कोहमाणुवजुत्तो य माणमे वादा ।

माउवजुत्तो मायालोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ॥१२६॥

साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि—जीवे कम्मंबद्धं पुडुंछेदि ववहारणयभणिदं । पाप और पुण्य की चर्चा करते हुए वह कहते हैं कि कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ—अन्ततः अर्गला ही हैं और अर्गला चाहे सोने की हो या लोहे की, बांधती ही है—

सोवणियंयि गियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।

बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

आसक्ति-युक्त कर्म बन्धन में डालता है और विराग मुक्ति की ओर ले जाता है । इसलिए जिन का उपदेश है कि कर्म में अनुरक्त मत बनो—

रत्तो बंधदिकम्मं मुंचदि जीवोविरागसंपण्णो ।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेषु मारज्जा ॥१५०॥

जिस प्रकार पककर गिर जाने पर फिर वृत्त उस फल को नहीं बांध सकता ऐसे ही जीव के कर्मभाव के परिपक्व होकर गिर जाने पर वह फिर जीव को नहीं बांध सकता (१६८) । यों भी रागादि से युक्त ही भाव बन्धन का कारण होता है । रागादि से प्रविमुक्त नहीं (१६७) । अज्ञान के कारण रागादि भाव होते हैं जिनमें कार्मिक प्रवाह चलता है किन्तु अज्ञान के हटते ही जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और तब नवीन कर्मबन्ध को अवकाश नहीं रह जाता । प्राचीन कर्म पृथिवी के पिण्ड के समान निष्क्रिय भाव से कर्म-शरीर से प्रतिबद्ध बने रह जाते हैं (१६९) । उपनिषद् ने भी इसीलिये कहा है—तस्य तावदेवचिरं यावन्नविजानाति । कुन्दकुन्द का भी कथन है कि सम्यग्दृष्टि वाले जीव के लिये कोई कर्म बन्धक नहीं होता क्योंकि आस्रव-भाव के न रहने पर कोई प्रत्यय बन्धनकारी नहीं होता—

आस्रवभावाभावेणपच्चया बंधगाभणिदा ॥१७६॥

ज्ञान और दर्शन आत्मा के नित्य गुण हैं और क्रोध, राग आदि का उससे आकस्मिक सम्बन्ध है । ज्ञानादि आत्मा में स्थित रहते हैं, अतः आत्मा ज्ञानादिमय है । क्रोधादि के आत्मधर्म न होने से क्रोध क्रोध से, राग राग से, इच्छा इच्छा से लग्न होते हैं, उपयोग (ज्ञान, दर्शन आदि) से नहीं । कर्म और नोकर्म भी ज्ञानमय आत्मा से संबद्ध नहीं हैं (१८१-२) । जैसे सुवर्ण बहुत अधिक तपाये जाने पर भी सुवर्ण-भाव को नहीं छोड़ता ऐसे ही ज्ञानी कर्मसंघात से तप्त होकर भी ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता । केवल अज्ञानी ही अपने स्वभाव को न जानने के कारण स्वयं को अज्ञानान्धकार से आच्छादित मानता है (१८४-५) । जो दर्शन-ज्ञानमय जीव अन्यत्र आसक्त न होकर अपना ही ध्यान करता है वह स्वयं को अविलम्ब कर्म से निर्मुक्त पाता है (१८६) । जैसे विष-विद्या की जानकारी रखने वाला भिषक् विष खा लेने पर भी नहीं मरता, ऐसे ही कर्मफलोदय होने पर भी ज्ञानी उनका उपभोग तो करता है, किन्तु उनसे बद्ध नहीं होता । उसके लिए कर्मविपाक का दंश निर्वीर्य सर्प के दंश के समान होता है (१९५) । इसलिए अपने ही शुद्ध ज्ञानमय रूप में रत रहो । इसी में सन्तोष-लाभ करो । विषयों में अनासक्त

रहकर इसी से तृप्ति पाओ। सर्वोत्तम सुख का प्रकार यही है—

एदम्हि रदोणिच्चं सत्तुटो होहि णिच्चभेदम्हि ।

एदेण होहि तित्तो तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥

ऐसा ज्ञानवान् जीव सारे द्रव्यों और कर्मों के मध्य रहता हुआ भी अनासक्त भाव के कारण कर्म में लिप्त नहीं होता, जैसे कीचड़ में पड़कर भी सुवर्ण उसमें नहीं सनता जबकि लोहे के समान अज्ञानी उसमें फंसकर जंग खा जाता है। जैसे—जीवित, अजीवित और विविध प्रकार की मिश्र वस्तुओं को खाकर और पचाकर भी शंख-कीट का रंग सफेद ही रहता है, काला नहीं पड़ता, ऐसे ही ज्ञानी सचित्त (जीवित), अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपभोग करके भी अपना-ज्ञानस्वरूप नहीं छोड़ता (२२०-२१)। सम्यग्दृष्टि जीव विविध विचारों, वाणी और कर्मों में प्रवृत्त होकर भी कर्मबन्ध में नहीं पड़ता क्योंकि वह इन सबको अनासक्त भाव से करता है, जैसे—कोई पुरुष शरीर में तेल का अभ्यंजन करके यदि धूल-भरे स्थान में भी व्यायाम करे तो उस पर धूल नहीं चढ़ती (२४२-४६)। जो यह समझता है कि मैं मारता हूँ या किसी के द्वारा मारा जाऊंगा, वह मूढ़ है, अज्ञानी है—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि व परोहि सत्तं हि ।

सो मूढो अण्णणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

देखिये गीता—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त सत्य को विविध सरल व्यावहारिक उदाहरणों के द्वारा समझाया है और वह भी बहुत विस्तार के साथ। उन्होंने उन सारे खतरों और जोखिमों के प्रति साधक को सावधान भी किया है जिनमें सामान्यतः जीव पड़ जाता है। वह कहते हैं—

सत्यं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं णयाणए किञ्चि ।

तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विति ॥३६०॥

शास्त्र ज्ञान का पर्याय नहीं है क्योंकि शास्त्र स्वयं कुछ नहीं जानता। इसीलिए जिन बतलाते हैं कि शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न, किन्तु ज्ञान और ज्ञाता दोनों परस्पर अभिन्न हैं—णाणं च जायणादो अन्वदिरित्तंमुणेयवं ॥४०३॥ उन्होंने बाहरी दिखावों और चिह्नों में न फंसने का परामर्श दिया है। संभवतः उनके समय में भी आज के समान कुछ धर्मध्वजी लोग वेष और लिंगों के आधार पर लोगों को बरगलाते रहे होंगे। वे कहते हैं—

पासंडियलिगाणिव गिह लिंगानि व बहुप्पयाराणि ।

धित्तुं वदन्ति मूढालिगमिणं भोक्ख मग्गोत्ति ॥४०८॥

णविएस मोक्खमग्गो पासंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।

दंसण—णाण—चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विति ॥४१०॥

ये बाहरी चिह्न (तिलक, छाप, माला, काषायवस्त्र, श्वेतवस्त्र या दिग्म्बरत्व) मोक्ष का मार्ग नहीं हैं। मोक्ष का साधन है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण और अन्त में वह यह कहकर ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चैव ज्ञाहितं चैव ।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदब्बेसु ॥४१२॥

स्वयं को मोक्ष-मार्ग में प्रतिष्ठित करो, उसी का, केवल उसी का ध्यान करो। मोक्षमार्ग में ही विहरण करो, अन्य द्रव्यों में विहार मत करो।

इस प्रकार समयसार में कुन्दकुन्द का प्रमुख प्रतिपाद्य है आत्मा और उसका ज्ञान अर्थात् मोक्ष। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र भी यही है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इन्हीं तीन का नाम रत्नत्रय है जो बौद्धों के रत्नत्रय (बुद्ध, धम्म और संघ) से सर्वथा भिन्न है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनम् अर्थात् तत्त्वार्थ पर आस्था को सम्यग्दर्शन कहा है। तत्त्वार्थ या वस्तु-सत्य सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव चेतन और अजीव जड़ पदार्थ है। जीव में कर्म-प्रसूति का संमिश्रण आस्रव है। बन्ध कार्मिक द्रव्य के संपर्क के कारण उत्पन्न अज्ञान, संवर कर्म प्रवाह की निरोधक क्रिया, निर्जरा कर्मप्रवाह और परिणामों की नाशक और मोक्ष कार्मिक उपाधियों से सर्वथा मुक्ति का नाम है। तत्त्व या सत् पदार्थ की परिभाषा जैन दर्शन में अन्य दर्शनों से कुछ भिन्न है। जैन विचारक स्थायी, अनश्वर या ध्रुव पदार्थ को नहीं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् यह सत् की परिभाषा मानते हैं। रूपाकार-परिवर्तन-सह होकर भी जो ध्रुव हो, वह सत् है। यह वेदान्तियों के अपरिवर्तित्ववत् सत् और बौद्धों के क्षणिकत्व सत् से अधिक वैज्ञानिक है। परिवर्तनशीलता के रहते हुए भी ध्रौव्य की सत्सम्बन्धी कल्पना ने द्रव्य के प्रति भी नयी दृष्टि दी है। जैनों के अनुसार

जैन दर्शन मीमांसा

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् यह द्रव्य की परिभाषा है। जैनदर्शन के अनुसार गुण द्रव्य से और द्रव्य गुण से पृथक् नहीं रहता। सुवर्ण का पीत वर्ण, उसकी तेजस्विता तथा भूषणादि के रूप में उसके विविध आकार, आकारों में परिवर्तन ये सब एक द्रव्य के ही रूप हैं। इसलिए सत् जगत् में द्रव्य और गुण पर्यायों की पृथक् सत्ता संभव नहीं है। इसलिए जैनदर्शन निर्गुण द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता और न द्रव्य एवं गुण को संयुक्त करने वाले किसी तीसरे—पदार्थ समवाय को ही मानता है। यहां तक कि वह अन्य दर्शनों के समान यह भी नहीं मानता कि चेतना और आत्मद्रव्य दो पृथक् तत्त्व हैं जो किसी बाह्यपरिस्थितिजन्य प्रभाव से संयुक्त हो जाते हैं। जैन चिन्तन में आत्मा तक अपने चेतन तत्त्व को स्वयं से पृथक् नहीं कर सकता। सत् और द्रव्य सम्बन्धी मान्यता को समझ लेने के बाद जैन दर्शन के अस्ति-नास्ति-वाद को भी सरलता से समझा जा सकता है। यद्यपि यह बात देखने में परस्पर-विरोधी प्रतीत होती है तो भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। मूलतत्त्व स्थिर रहता है किन्तु उसके रूपाकार बदलते रहते हैं। दृष्टि का यह अन्तर 'नय' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुन्दकुन्द ने इसी के (व्यवहार और निश्चय नय) आधार पर आत्मतत्त्व की व्याख्या की है। द्रव्यार्थिक और पारमार्थिक नय के बिना वस्तु का स्वरूप पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। जैन दर्शन प्रत्येक सत् पदार्थ की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन दशाओं को दृष्टि में रखकर करता है। शंकर ने इस बात की सूक्ष्मता की ओर ध्यान न देकर इसे विक्षिप्त-प्रलाप मात्र कहकर उपेक्षित कर दिया है।

कुन्दकुन्द का जीव या आत्मा सांख्य के पुरुष से यद्यपि एकाकार लगता है तो भी दोनों में अन्तर है। सांख्य के अनुसार जीव न कर्ता है, न भोक्ता। वह न बद्ध होता है, न मुक्त, बद्ध और मुक्त तो प्रकृति होती है। सांख्यकारिका कहती है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति किञ्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

तब जो सांख्य कहता है कि—

तत्र जरा मरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

लिङ्गस्याविनिवृत्तं तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

जब तक लिंग (प्रकृति) की विनिवृत्ति नहीं होती तब तक चेतन पुरुष जरा-मरण के दुःख को प्राप्त होता रहता है। यह दुःख स्वाभाविक है। तब प्रश्न उठता है कि प्रकृति के कार्य का परिणाम पुरुष को क्यों भोगना पड़ता है? भोक्ता उसे होना चाहिए जो कर्ता हो। इसी प्रकार कुन्दकुन्द मीमांसकों और वैशेषिकों के इस मत से भी सहमत नहीं हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है और वह उससे पृथक् है तथा दोनों का संयोग बाह्य परिस्थितियों के द्वारा होता है। कुन्दकुन्द के अनुसार गुण और द्रव्य की पृथक् सत्ता संभव नहीं। ज्ञान के विषय में भी जैन दर्शन अन्यो से थोड़ा भिन्न है। वह इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान को, जिसे अन्य दर्शन प्रत्यक्ष कहते हैं, परोक्ष की संज्ञा देता है क्योंकि वह उसे सीधे नहीं, अपितु पुद्गलरूप इन्द्रियों और परिवेश से प्राप्त होता है। बिना इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को सीधा प्राप्त होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। फिर भी जैन दर्शन अवधि-ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान, इन दो प्रकार के अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों को मान्यता देता है। अतः जैन मत में आत्मज्ञान, कर्मबन्ध-मुक्ति ही प्रत्यक्ष (लोकोत्तर) ज्ञान है। इसी प्रकार जैन ईश्वरीय सृष्टि में विश्वास नहीं करते। वस्तुतः मीमांसा को छोड़कर अन्य किसी प्राचीन दर्शन ने सृष्टि-रचना के सिद्धान्त को मान्यता दी भी नहीं थी। इस बात में जैन तथा अन्य प्राचीन दार्शनिक एकमत प्रतीत होते हैं कि जीव और अजीव ये दो असृष्ट, नित्य और अविनाशी हैं। कुन्दकुन्द बार-बार इसका समर्थन करते हैं।

कुन्दकुन्द और शंकर इस बात में परस्पर सहमत हैं कि आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व दोनों सर्वथा पृथक् हैं। इन दोनों का पृथक् अस्तित्व है। इसमें कहीं कोई साम्य नहीं, क्योंकि इनमें एक चेतन है और दूसरा अचेतन। आत्म-जिज्ञासा के प्रसंग में दोनों निश्चयनय और व्यवहारनय (पारमार्थिक और व्यावहारिक पक्ष) को स्वीकार करते हैं। दोनों ही संसार-प्रवाह का कारण अविद्या को मानते हैं जो अनादि है। इसी के कारण आत्मा स्वयं को भूलकर नश्वर जगत् के साथ संबद्ध मान लेता है। स्वरूप का ज्ञान होने पर जीव स्वयं को सारे भेदभावों से मुक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप के रूप में पहचान लेता है और कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। शंकर और कुन्दकुन्द दोनों उपाधि विरहित आत्मा को परमात्मा कहते हैं। कुन्दकुन्द अन्य भारतीय धर्मों के समान आत्मा से पृथक् परमात्मा की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्त आत्मा ही 'परमात्मा' है। शंकर के मत में भी, आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के एकत्व का नाम ही अद्वैतावस्था है। दोनों के मत में अध्यास या मिथ्यारूप मूलभ्रान्ति ही संसार का कारण है। दोनों के अनुसार आत्मा की विभिन्न स्थितियों (दुःख-सुख, जरा-मरण एवं पुनर्भव) के लिए उसके कर्म ही उत्तरदायी हैं। शंकर और कुन्दकुन्द में अन्तर इतना है कि शंकर शरीर (आत्मा से भिन्न समग्र विश्व) को मिथ्या मानते हैं, किन्तु कुन्दकुन्द नहीं। कुन्दकुन्द अनात्म के प्रति आत्मदृष्टि को ही मिथ्या कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भारत के मूर्धन्य दार्शनिक चिन्तकों में हैं। उनका अवदान गुणवत्ता और परिमाण दोनों की दृष्टि से ही विपुल है।